THE ECONOMIC TIMES

Date: 27-10-2025

Saudi Labour Reform Can Unlock New Doors

India can gain jobs, business from changes

ET Editorial

Saudi Arabia's reform of its sponsorship programme for overseas workers is seen as a precursor to the kingdom opening up to foreign investment as it diversifies its economy away from oil. But alterations to the kafala system are partial, with sponsorship still mandated to secure entry, although exit and job changes have been freed for a wide category of expatriate labour. The segment most vulnerable to exploitation, domestic help, is not covered by the new rules. Saudi Arabia thus swells the ranks of members of Gulf Coordination Council (GCC) that are reforming their regimes for foreign workers under pressure by economic forces to seek a future beyond natural resources. The measures remain considerably below internationally accepted norms on labour mobility.

Yet labour reforms are vital for Saudi Arabia. Over 40% of workers are foreigners, the majority of them from South Asia, including India. The country has accelerated its infrastructure build-up and is dependent on labour-intensive construction during the transition. As a key supplier of migrant workers and a big buyer of oil, India should leverage itself to play a bigger role in Saudi Arabia's transformation. India is also building railways, airports and ports. The experience will come in handy for similar business in the Persian Gulf.

Relaxations to the kafala system are part of Saudi Arabia's Vision 2030, which coincides with commitments by some of the world's largest economies to transition to RE. Oil-producing nations will also need to develop their transition strategies. Here, too, India could play a constructive role in the Gulf. So long as India remains among the fastest-growing major economies, it will improve its capacity to engage with countries like Saudi Arabia in emerging sectors. Negotiations are on for an FTA with GCC, and India has been fairly spiffy in signing bilateral agreements with some of its members. Saudi Arabia would be the biggest catch in this haul.

Date: 27-10-2025

Let a Hundred Minds Explore Ideas Freely

ET Editorial

In a move that challenges the very spirit of free inquiry, GoI has asked ministries to revisit how PhD guides are chosen and to steer doctoral research toward innovation, national priorities and stronger academia—industry collaboration. While closer ties with industry are desirable, the zealous drive to accelerate R&D— from dictating who can guide to what may be researched—risks stifling academic freedom.

For a country racing to catch up in the global innovation sweepstakes, the temptation to direct research toward state-declared priorities is understandable. After all, central planning of research yielded visible results in China and the erstwhile Soviet Union. But those models came with a heavy cost—narrowing the field of enquiry, silencing unconventional thought, and often discouraging the very curiosity that fuels genuine discovery. No matter how well-intentioned, a 'helping hand' that steers too tightly ends up throttling what it seeks to nurture.

A state-approved list of research themes or mentors would push aside 'non-priority' areas — the arts, humanities, and blue-sky sciences that often yield breakthroughs because they wander off the beaten path. Innovation rarely flourishes under supervision. It thrives in the freely explored, where failure is tolerated and curiosity unrestrained. Academic freedom is not an indulgence; it is the oxygen of progress and the foundation on which great nations build their scientific and cultural capital. India's challenge is to find that balance between guiding research and granting freedom. GoI should identify national priorities and channel more incentives toward them. But that must come as an invitation, not an instruction. The record worldwide is clear: chokeholds on research do not produce results — freedom, diversity, and a culture that celebrates questioning do.

जनसत्ता

Date: 27-10-2025

विकास के बरक्स विषमता की तस्वीर

सुरेश सेठ

भारतीय संस्कृति 'वसुधैव कुटुंबकम' को महत्त्व देती आई है। इसका अर्थ यह है कि पूरी धरती और उस पर बसने वाले सभी देश और उनके नागरिक एक परिवार हैं। अगर एक कुटुंब में कोई कमजोर है, कोई रोगी है, तो उसको फिर से स्वस्थ करना या उसकी सहायता करना इस कुटुंब का कर्तव्य है। अर्थशास्त्र में भी कहा जाता है कि अगर विश्व के किसी भी कोने में गरीबी है, तो वह पूरी दुनिया की समृद्धि और संपन्नता के लिए संकट पैदा कर सकती है। यह बात कितनी सच है, यह इक्कीसवीं सदी के इस आपाधापी वाले युग में नजर आने लगी है। किसी समय तीसरी दुनिया के उभरते हुए

देशों को सहारा देने और उनके व्यवसाय को प्रगति देने के लिए समृद्ध देश अपना कंधा भिड़ा देते थे। कहीं उन्हें कर में रियायत मिल जाती, कहीं अनुदान मिल जाता और उनके पिछड़ेपन को दूर करने का प्रयास होता। इसके लिए अंतरराष्ट्रीय फलक पर कई वैश्विक मंच स्थापित किए गए। निश्चय ही इन मंचों को स्थापित करने में अमेरिका और पश्चिमी देशों का योगदान रहा है, लेकिन धीरे-धीरे उनका अपना स्वार्थ प्रबल होता चला गया। भौतिकता के इस युग में केवल अपना घर ही नजर आने लगा। दूसरे का गिर जाए, तो भी क्या !

वैश्विक पटल पर कुछ वर्ष पहले डोनाल्ड ट्रंप उभरे और उन्होंने 'अमेरिका अमेरिकियों के लिए' का नारा दिया । बिल्कुल उसी तरह अन्य पश्चिमी देशों ने भी अपने हित साधने पर ध्यान देना शुरू कर दिया। इस तरह गुट सापेक्ष राजनीति हावी होने लगी। इसमें गरीब देशों की कोई परवाह नहीं थी। परिणाम यह हुआ कि उन सभी अंतरराष्ट्रीय मंचों पर तीसरी दुनिया के उभरते देशों को आर्थिक सहयोग मिलना बंद हो गया। समृद्ध देश अपने पुराने वादों से मुकरने लगे। जलवायु परिवर्तन दुनिया के लिए बहुत बड़े संकट के रूप में सामने आ रहा था। पश्चिमी देशों का रुख था कि इसका मुकाबला करने के लिए अधिक राशि देंगे, लेकिन बाद में वे इससे मुकर गए। उन्होंने यह भी चाहा कि जो प्रवासी उनके देश में आ गए हैं, उन्हें वापस उनके देश भेज दिया जाए। ऐसा हुआ भी अमेरिका ने यह कदम उठा लिया। इसे पूरी दुनिया ने देखा। फिर शुरू हो गया शुल्क संग्राम कहा गया कि हम पिछड़े हुए देशों से जो सामान मंगवाते थे, उन पर अब अधिक शुल्क नहीं देंगे, बल्कि संबंधित देश के बराबर या उससे अधिक शुल्क लगाएंगे।

इस प्रकार पिछड़े हुए देशों के नियत के साथ उनके लघु, कुटीर उद्योगों और दस्तकारियों पर चोट पहुंची। जो देश पिछड़ गए थे, उनकी परवाह किए बगैर समृद्ध देश अंतरिक्ष में संसार बसाने की बातें करने लगे और अपने स्थानीय नागरिकों के लिए एक सुनहरा संसार रचने को प्राथमिकता देने लगे। इसकी चोट अगर गरीब देशों को पहुंचती है, तो पहुंचे। नतीजा यह हुआ कि गरीब देश जो खनिज शक्ति से संपन्न थे और कृषि पैदावार से भरपूर थे, वे वैसी समृद्धि नहीं प्राप्त कर पाए, जिस तरीके से समृद्ध देशों ने हासिल की और नई आर्थिक उड़ान भरी।

भारत का भी यही हाल है। घोषणा की गई है कि हम आर्थिक क्षेत्र में तीसरी महाशक्ति बनने जा रहे हैं। वर्ष 2047 तक शायद हम दुनिया की सबसे बड़ी आर्थिक महाशक्ति बन जाएं। यह सपना निश्चय ही अमेरिका और चीन को पछाड़ने का है, लेकिन दुनिया के गरीब देशों को देखते हैं, तो पाते हैं कि असमानता यहां आज भी कायम है अमीर और गरीब के बीच खाई बढ़ती जा रही है। भारत को अपनी विकास गति पर अभिमान है। यह कहते हुए नहीं थकते कि हमने दुनिया में सबसे तेज आर्थिक रफ्तार हासिल की है। मगर इसका भी यही हाल है। कहा जाता है कि भारत एक अमीर देश है, जिसमें गरीब बसते हैं। ये गरीब सस्ते राशन के लिए शायद अनंतकाल तक कतार लगाएंगे। अभी संयुक्त राष्ट्र की खाद्य सहायता एजंसी की एक रपट आई है. जिसमें एक बहुत गंभीर संकट की ओर इशारा किया गया है कि समृद्ध देशों ने अंतरराष्ट्रीय खाद्य सहायता कार्यक्रम का वित्तपोषण करने से इनकार कर दिया है। इससे फिलहाल कुछ गरीब देशों में भुखमरी के खिलाफ लड़ाई प्रभावित हो सकती है।

समृद्ध देशों द्वारा हाथ खींचने के कारण कम से कम छह देशों में करोड़ों लोग भुखमरी की चपेट में आ गए हैं। करीब 1.4 करोड़ लोग ऐसे हैं जो अभी भुखमरी के कगार पर हैं। इनमें अफगानिस्तान, कांगो, हैती, सोमालिया, दक्षिणी सूडान और सुडान शामिल हैं। यहीं नहीं, भारत में लाखों लोगों की जीवन रेखा बीमारी, बेरोजगारी, भ्रष्टाचार और महंगाई से टूटती हुई नजर आ रही है। उस विकास दर के बढ़ने का क्या फायदा, जहां विकास अंतिम पायदान पर खड़े व्यक्ति तक नहीं पहुंच रहा है। भारत जैसे देशों में यथास्थिति दिख रही है। भारत का एक भाग जिसे आधुनिक या समृद्ध कह सकते

हैं, वह तेजी से विकास की दौड़ लगा रहा है। जबकि तीन-चौथाई आबादी पिछड़ गई है। भुखमरी की परिभाषा बदल कर लोगों को भुखमरी से बाहर आने की घोषणा बेशक कर दी जाए, लेकिन सच यही है कि बेरोजगारी और अंधकारमय भविष्य का संकट सामने है। फिर भी कुछ बड़े देशों ने अंतरराष्ट्रीय सहायता कार्यक्रम के लिए चालीस फीसद कम वित्तपोषण का फैसला किया है। यानी इनका अनुमानित बजट अगर दस अरब डालर था, तो अब यह घट कर करीब छह अरब डालर रह जाएगा।

दूसरी ओर, इस समय वैश्विक ताप का संकट पूरी दुनिया पर मंडरा रहा है। गरीब देशों की अर्थव्यवस्था पहले से मुश्किल में है। वहीं समृद्ध देशों ने बादाखिलाफी कर जलवायु संकट से लड़ने के लिए अतिरिक्त राशि देने से इनकार कर दिया है। अमेरिका ने अपने शुल्क में भी कोई राहत नहीं दी। नतीजा यह हुआ कि तीसरी दुनिया के देश बेहाल हैं। प्रदूषण से संघर्ष करने का संकल्प पूरा होता नजर नहीं आ रहा है।

अब एक अजब विसंगति पैदा हो गई है। एक ओर विकास यात्रा है, जिसे निरंतर गति देने के लिए अनुसंधान, कृत्रिम मेधा शक्ति और इंटरनेट ताकत की जरूरत है। दूसरी ओर अगर करोड़ों गरीबों की ओर देखते हैं, तो उनके लिए रोजी-रोटी की व्यवस्था क्या हैं? उनको क्या केवल लंगरों से रोटी मिलेगी ? भूख से न मरने देने की उन्हें गारंटी तो दे दी, लेकिन रोजगार की गारंटी नहीं दी। हम अधुनातन वैज्ञानिक क्रांति की बातें करते हैं, लेकिन भावी पीढ़ियों के लिए आधुनिक शिक्षा क्रांति कहां है? भारत के करोड़ों युवा आज भी पुराने ढंग की शिक्षा के चक्रव्यूह में क्यों घिरे हुए हैं? कृत्रिम मेधा की शक्ति की बातें करने के बावजूद हमने पाठ्यक्रम क्यों नहीं बदला ? उनका मार्ग निर्देशित करने वाले निपुण अध्यापक कहां हैं? इस तरह से ज्ञान का जो शून्य पैदा हो रहा है, वह इन सरपट दौड़ती हुई आर्थिक प्रगति के बीच कहीं पीछे छूट गया है।

इस शून्य को भरने के लिए क्या एक क्रांतिकारी सोच की जरूरत नहीं है ? यह सोच संतुलन की है। संस्कृति के आदर्शों के साथ आर्थिक प्रगति के संतुलन की है और भौतिकवाद की कड़वी सच्चाइयों से जूझने के बावजूद अपने आदर्शों और अपनी कीमत को बनाए रखने की है। भारत यह संतुलन बना ले, तो निश्चय ही वह 'विश्वगुरु' बन सकता है, जिसका सपना 2047 के लिए देश का नेतृत्व देखता है। मगर रोजी-रोटी की गारंटी के बिना सपनों की यह उड़ान किस काम की ?